क्रांति के बारे में कुछ टिप्पणियां

पिछले पच्चीस–तीस सालों में दुनिया ने कोई बड़ी क्रांति नहीं देखी। इसका एक बुरा परिणाम यह हुआ है कि क्रांतियों के चरित्र और गति के बारे में ही क्रांतिकारी लोग बेहद बुनियादी बातों को भुला बैठे हैं। ज्यादातर क्रांतिकारियों के लिये क्रांति एक तकनीकी किस्म की चीज बन गयी है। दुनिया के पैमाने पर क्रांति की वस्तुगत शक्तियां जितनी कमजोर हुई हैं, आत्मगत शक्तियों पर उतना ही जोर बढ़ता गया है। क्रांति का स्वतःस्फूर्त चरित्र जितना कमजोर हुआ है, क्रांतिकारियों का योजनावाद उतना ही बढ़ता गया है। क्रांति की विश्व–ऐतिहासिक गति जितनी धूमिल हुई है, क्रांतिकारियों की निगाह में उसका तकनीकी पहलू उतना ही महत्वपूर्ण होता गया है। स्थिति यहां तक पहुंच गयी है कि ढेरों क्रांतिकारी यह सोचने लगे हैं कि वे महज सही रणनीति और रणकौशल से क्रांति सम्पन्न कर सकते हैं। कमी है तो केवल सही रणनीति और रणकौशल तथा उस पर चलने वाली एक पार्टी की। बाकी सब तो ठीक है।

ऊपर हम जिन क्रांतिकारियों का जिक्र कर रहे हैं, उनसे हमारा आशय कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों से है। इसी तरह क्रांति से आशय उन क्रांतियों से है जिनके लिए कम्युनिस्ट प्रयास कर रहे हैं।

आज यह दुःखद सच्चाई है कि दुनिया का कम्युनिस्ट आन्दोलन वैश्विक पैमाने पर भी और हर देश में भी टूट–फूट और बिखराव का शिकार है। इस फूट और बिखराव का एक परिणाम यह हुआ है कि कम्युनिस्ट संगठन अपने वर्ग की पार्टी – सर्वहारा की पार्टी होने के बदले कम्युनिस्ट पंथों में तबदील हो गये हैं। और पंथ के ही अनुरूप इनकी सिद्धान्त और व्यवहार के हर सवाल पर महीन बुनावटें और पच्चीकारियां हैं।

क्रांति की आम गति के सवाल पर भी यही स्थिति है। इनकी नजर में क्रांति धरती को भूकम्प की तरह हिला देने वाली विश्व–ऐतिहासिक घटना होने के बदले, जिस दौरान इतिहास चन्द दिनों में दशकों का सफर तय कर लेता है, कुछ ऐसी चीज है जिसे योजना बना कर अंजाम दिया जा सकता है। इस तरह क्रांति इतिहास का इंजन न होकर रसोईघर का पकवान हो जाती है। और जब क्रांति इतिहास का इंजन न रह कर पकवान बन जाय तब हर रसोईये की अपनी अलग 'रेसिपी' हो सकती है और उसके पकाये पकवान का अलग स्वाद। रही जनता तो वह 'रेसिपी' पढ़कर व्यंजन के स्वाद का अनुमान लगाती रहती है, खुद पकवान उसके सामने कभी नहीं आता।

हम मार्क्सवादी हैं। वक्त आ गया है कि क्रांति की गति के सवाल पर भी हम मार्क्सवादी अवस्थिति अपनाएं। क्रांति के बारे में बुनावटें और पच्चीकारियां करनी छोड़ कर उसे विश्व– ऐतिहासिक घटना के रूप में ग्रहण करना शुरू करें। यह लेख इसी दिशा में प्रयास है।

I

क्रांति की ऐतिहासिक जरूरत

"... अपने विकास की एक खास मंजिल पर पहुंच कर समाज की भौतिक उत्पादन शक्तियां तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों से, या – उसी चीज को कानूनी शब्दावली में यों कहा जा सकता है – उन सम्पत्ति सम्बन्धों से टकराती हैं, जिनके अन्तर्गत वे उस समय तक काम करती होती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के विकास के अनुरूप न रह कर उनके लिए बेड़ियां बन जाते हैं। तब सामाजिक क्रांति का युग शुरू होता है। आर्थिक बुनियाद के बदलने के साथ समस्त वृहदाकार ऊपरी ढांचा भी कमोबेश तेजी से बदल जाता है। ... कोई भी समाज व्यवस्था तब तक खत्म नहीं होती, जब तक उसके अन्दर तमाम उत्पादन शक्तियां, जिनके लिए उसमें जगह है, विकसित नहीं हो जातीं और नये, उच्चतर उत्पादन सम्बन्धों का आविर्भाव तब तक नहीं होता जब तक कि उनके अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियां पुराने समाज के गर्भ में ही पुष्ट नहीं हो चुकतीं। इसलिए मानव जाति अपने लिए हमेशा केवल ऐसे ही कार्यभार निर्धारित करती है, जिन्हें वह सम्पन्न कर सकती है। कारण यह कि मामले को गौर से देखने पर हमेशा यही पायेंगे कि स्वयं कार्यभार केवल तभी उपस्थित होता है, जब उसे सम्पन्न करने के लिए भौतिक परिस्थितियां पहले से तैयार होती हैं या कम से कम तैयार हो रही होती हैं।..." (कार्ल मार्क्स,'राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक समीक्षा का प्रयास की भूमिका',संकलित रचनाएं, खण्ड–1,भाग–2, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978,पृष्ठ–267. 268)

"उत्पीड़ित वर्ग, वर्गों के विरोध पर आधारित हर समाज का अनिवार्य तत्व होता है। इसलिए उस उत्पीड़ित वर्ग की मुक्ति का लाजिमीं मतलब एक नये समाज का सृजन होता है। उत्पीड़ित वर्ग खुद को मुक्त करने में समर्थ बने, इसके लिए आवश्यक है कि पहले से विकसित उत्पादक शक्तियों और मौजूदा सामाजिक सम्बन्धों के बीच अब आगे सह–अस्तित्व संभव न रहे। उत्पादन के तमाम साधनों में सबसे बड़ी उत्पादक शक्ति स्वयं क्रांतिकारी वर्ग होता है। एक वर्ग के रूप में क्रांतिकारी तत्वों के संगठन के लिए उन तमाम उत्पादक शक्तियों का अस्तित्व में आना जरूरी है जो पुराने समाज के गर्भ में पैदा हो सकें।"(कार्ल मार्क्स, 'दर्शन की द्ररिद्रता', प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2004, पृष्ठ–162–163)

> "जब फरवरी (1848–संपादक) क्रांति भड़की ... तब उस वक्त की परिस्थितियों में इस बात में संदेह न कर सकते थे कि महान् निर्णायक लड़ाई शुरू हो गयी है, कि यह लड़ाई क्रांति के एक ही लंबे, उतार–चढ़ाव वाले काल में लड़नी होगी, पर अंत में उसकी परिणति सर्वहारा की अंतिम विजय में ही हो सकती है।
>
> ''1849 की हारों के बाद बाजारू जनवाद की भ्रांतियों से हम बिल्कुल ही बरी थे। ... बाजारू जनवाद को आशा थी कि क्रांति फिर किसी भी दिन भड़क सकती है; हमने 1850 की पतझड़ में ही ऐलान किया था कि क्रांतिकारी काल का कम से कम **पहला** अध्याय

समाप्त हो चुका है और जब तक एक नया विश्व आर्थिक संकट न उत्पन्न हो तब तक कुछ भी आशा नहीं की जा सकती। यह कहने के लिए हमें क्रांति के प्रति विश्वासघाती घोषित करके बहिष्कृत किया गया। ....

"लेकिन इतिहास ने हमें भी गलत साबित किया, उसने यह जाहिर कर दिया कि हमारा दृष्टिकोण भी एक भ्रम था। उसने इतना ही नहीं, कुछ और भी किया। उसने उस समय की हमारी गलत धारणाओं को ही नहीं मिटाया, उसने उन परिस्थितियों को भी बिल्कुल बदल डाला, जिनमें सर्वहारा को अपना संघर्ष चलाना है।...

"इतिहास ने हमें और हमारी तरह सोचने वाले हर आदमी को गलत साबित कर दिया है। उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस समय यूरोपीय महाद्वीप में आर्थिक विकास की जो अवस्था थी, वह पूंजीवादी उत्पादन के निराकरण के लिए बहुत परिपक्व न थी।...

"...एक बार फिर साबित हो गया कि पेरिस में अब सर्वहारा क्रांति को छोड़कर और कोई क्रांति नहीं हो सकती। विजय के पश्चात सत्ता स्वतः, अनायास तथा सर्वथा असंदिग्ध रूप से मजदूर वर्ग के हाथ में आ गयी (मार्च 1871 के पेरिस कम्यून में–संपादक)। और एक बार फिर यह साबित हो गया कि उस समय, हमारी कृति में वर्णित काल के बीस साल बाद भी, मजदूर वर्ग का यह शासन कितना असंभव था।..." (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष' की भूमिका, संकलित रचनाएं, वही, खण्ड.1 भाग.1, पृष्ठ–235–239,जोर मूल में)

"सबसे उग्र पार्टी के नेता के लिए सबसे बुरी बात यह होती है कि उसे एक ऐसे समय में सरकार चलानी पड़े जब उस वर्ग के आधिपत्य के लिए तथा उस आधिपत्य के अनुरूप कदमों के लिए अभी समाज तैयार नहीं है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। जो वह कर सकता है वह उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि विभिन्न वर्गों के बीच अंतर्विरोध की अवस्था क्या है तथा अस्तित्व के भौतिक साधनों के विकास का स्तर, उत्पादन तथा व्यापार की अवस्था क्या है जिस पर वर्गीय अंतर्विरोध हमेशा आधारित होता है। जो उसे करना **चाहिए,** जो उसकी पार्टी उससे मांग करती है, वह फिर उस पर या वर्ग संघर्ष के विकास के स्तर या इसकी अवस्थाओं पर निर्भर नहीं करता। वह उसके द्वारा अभी तक प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा मांगों से बंधा होता है जो, एक बार फिर, वर्तमान क्षण के वर्ग–संघर्ष या उत्पादन और व्यापार के कम या ज्यादा आकस्मिक स्तर से प्रस्थान नहीं करते बल्कि सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के आम परिणामों के बारे में उसकी भेदी अंतर्दृष्टि से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वह निश्चित तौर पर असमाधेय दुविधा में फंस जाता है। वह जो कर **सकता** है वह उसके पहले के सारे कामों और सिद्धान्तों तथा उसकी पार्टी के तात्कालिक हितों का निषेध करता है तथा जो उसे करना **चाहिये** वह किया नहीं जा सकता। एक शब्द में वह अपनी पार्टी या अपने वर्ग का नहीं बल्कि ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिये मजबूर होता है जिसके आधिपत्य

> के लिये अभी आन्दोलन परिपक्व होता है। आन्दोलन के हित में वह पराये वर्ग के हित को आगे बढ़ाने के लिए तथा अपने वर्ग को बातों व वादों और इस दावे को कि पराये वर्ग के हित ही उनके अपने हित हैं, परोसने के लिए मजबूर होता है। जो इस अकबकाहट की स्थिति में फंसता है, वह निश्चित तौर पर मारा जाता है।" (फ्रेडरिक एंगेल्स] `Peasant War in Germany', Progress publishers, Moscow, पृष्ठ–115, जोर मूल में, अनुवाद हमारा)

क्रांति के बारे में क्रांतिकारी अक्सर एक बात भूल जाते हैं कि क्रांति किसी व्यक्ति की या किसी पार्टी की इच्छा का परिणाम नहीं होती। क्रांति, अपने नाम के सही अर्थ में, का मतलब है एक समाज व्यवस्था के बदले दूसरी समाज व्यवस्था की स्थापना। और व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की इच्छा मात्र से न तो किसी समाज को समाप्त किया जा सकता है और न ही किसी नयी व्यवस्था को स्थापित। यहां तक कि किसी समूचे वर्ग की इच्छा से भी कोई फर्क नहीं पड़ता जब तक कि वर्ग की इच्छा इतिहास विकास की अवस्था से मेल न खाती हो।

जब से वर्गीय समाज पैदा हुआ है तभी से शोषक वर्गों के खिलाफ शोषित वर्गों का संघर्ष भी चलता रहा है। अक्सर ही शोषित वर्ग, खासकर सबसे नीचे का वर्ग सम्पत्तिविहीन वर्ग रहा है। ऐसे में शोषक वर्गों के खिलाफ शोषित वर्गों का संघर्ष साथ ही निजी सम्पत्ति के खिलाफ भी संघर्ष बन जाता रहा है। खासकर जब एक समाज व्यवस्था ध्वस्त होकर दूसरी बन रही हो तब पुराने शासक वर्गों के खिलाफ संघर्ष अक्सर ही सम्पत्तिविहीनों द्वारा निजी सम्पत्ति के खिलाफ संघर्ष में रूपान्तरित कर दिया जाता रहा है। यह अकारण नहीं है कि आदिम साम्यवादी व्यवस्था की समाप्ति और वर्गीय व्यवस्था की उत्पत्ति के समय से ही साम्यवाद की अवधारणा भी पैदा हुई है। तब से ही सारे सामाजिक संघर्षों और क्रांतियों में इस अवधारणा ने बार–बार अपने को अभिव्यक्त किया है।

आदिम साम्यवादी व्यवस्था के टूटने के बाद से अभी तक चूंकि सारी व्यवस्थाएं वर्गीय व्यवस्थाएं रही हैं इसी लिए इन सभी में उपरोक्त परिघटना बार–बार परिलक्षित हुई है। बार–बार सम्पत्ति– विहीनों द्वारा निजी सम्पत्ति के अतिक्रमण का प्रयास किया जाता रहा है। ईसाई धर्म की उत्पत्ति से लेकर जर्मनी में किसान युद्ध तक और अंग्रेजी क्रांति के लेवेलर आन्दोलन से लेकर फ्रांसीसी क्रांति के आतंक के राज्य तक हर जगह यह चीज मौजूद रही है।

लेकिन निजी सम्पत्ति किसी की इच्छा से और जब चाहे तब समाप्त नहीं हो सकती थी। निजी सम्पत्ति के हजारों साल के इतिहास ने और इसके विविध रूपों–गुलामी, सामंती तथा पूंजीवादी ने इसे प्रमाणित किया कि निजी सम्पत्ति एक निश्चित समय में, समाज विकास की एक निश्चित अवस्था में पैदा हुई थी और इसी तरह यह एक निश्चित समय में ही, समाज विकास की एक निश्चित अवस्था में ही समाप्त हो सकती है। निजी सम्पत्ति तब पैदा हुयी जब श्रम शक्ति की उत्पादकता का स्तर इतना ऊंचा हो गया कि किसी व्यक्ति की न्यूनतम जरूरत पूरा करने के बाद कुछ बच जाय। इसे छीन ही कर शोषक वर्ग बिना श्रम किये जिन्दा रह सकते थे। इसी तरह निजी सम्पत्ति केवल तभी समाप्त हो सकती है जब श्रम शक्ति की उत्पादकता का स्तर इतना ऊंचा हो जाय कि समाज के सभी लोगों की जरूरतों से उत्पादन ज्यादा हो जाय। तब बंटवारे का सवाल खत्म हो जायेगा।

केवल इसी स्थिति में ही निजी सम्पत्ति को समाप्त किया जा सकता है। जब तक यह स्थिति पैदा नहीं होती तब तक निजी सम्पत्ति बनी रहेगी। निजी सम्पत्ति के प्रति घृणा मात्र या निजी सम्पत्ति पर आधारित वर्गीय व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष मात्र निजी सम्पत्ति को समाप्त नहीं कर सकता।

निजी सम्पत्ति इस मुकाम तक केवल एक लम्बे ऐतिहासिक समय में ही पहुंच सकती थी। केवल पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली तक पहुंच कर ही निजी सम्पत्ति अपनी समाप्ति के लिए आधार का निर्माण कर सकती थी। तब तक इतिहास को अन्य समाज व्यवस्थाओं के चरण से गुजरना था।

इससे साफ है कि इतिहास के इस पूरे दौर में, निजी सम्पत्ति और इस पर आधारित वर्गों के इस पूरे दौर में कुछ बातें आम थी। इस पूरे दौर में समाज शोषक और शोषित वर्गों में बंटा हुआ था। इस पूरे दौर में शोषक वर्ग शोषितों पर शासन करते थे और उनका दमन–उत्पीड़न करते थे। इस पूरे दौर में राज्य सत्ता अल्पसंख्यक शोषकों–शासकों के शासन का औजार थी जिसके द्वारा वे बहुसंख्यक शोषितों को दबाकर रखते थे। इस पूरे दौर में अन्याय–अत्याचार का दौर–दौरा था।

लेकिन इसके बावजूद यह पूरा दौर एक सा, एक सम नहीं था। इस पूरे दौर में निजी सम्पत्ति एक सी नहीं थी। इस पूरे दौर में निजी सम्पत्ति ने अलग–अलग रूप धारण किये। और इसी के अनुरूप अलग–अलग वर्ग अस्तित्व में आये। इसी के अनुरूप शोषण का रूप बदलता रहा। इसी के अनुरूप शासन का रूप भी बदलता रहा। आम तौर पर हम इन रूपों को गुलामी व्यवस्था, सामंती व्यवस्था तथा पूंजीवादी व्यवस्था के रूप में जानते हैं।

निजी सम्पत्ति के विभिन्न रूप होने के बावजूद इन समाज व्यवस्थाओं में काफी फर्क था। वे एक के बाद एक समाज विकास का द्योतक थीं। और इनमें से एक व्यवस्था से दूसरी में रूपान्तरण के बारे में मार्क्स द्वारा कही गयी उपरोक्त बात लागू होती है।

मार्क्स की बात इतिहास पर दोहरे रूप में लागू होती है। एक ओर यदि हम पूरे मानव इतिहास को तीन चरणों में देखें– आदिम साम्यवादी समाज, वर्गीय समाज तथा भविष्य का वर्गविहीन समाज– तो यह बात लागू होती है। दूसरी ओर यदि हम प्रत्येक समाज व्यवस्था को लें तो भी यही बात लागू होती है।

सामंती निजी सम्पत्ति को समाप्त कर साम्यवादी व्यवस्था कायम नहीं की जा सकती थी। आतंक के राज्य ने अत्यंत तीखे रूप में दिखाया कि यह असंभव था और यह समाज को केवल तबाही की ओर ही धकेल सकता था। इसी तरह, जैसा कि एंगेल्स ने 1848–50 की क्रांतियों के संदर्भ में स्वीकार किया, पूंजीवाद को उसके शैशवकाल में ही समाप्त नहीं किया जा सकता था।

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र लिखते समय मार्क्स–एंगेल्स का खयाल था कि इंग्लेंड और फ्रांस में पूंजीपति वर्ग कालातीत हो गया है तथा वहां क्रांति कर सर्वहारा वर्ग साम्यवाद की स्थापना कर सकता है। 1848–50 की यूरोपीय क्रांतियां इसे सही साबित करती लगीं।

लेकिन इतिहास ने बाद में साबित किया कि यह मात्र भ्रम था। बल्कि पूरे यूरोप के पैमाने पर पूंजीवाद का विकास इन क्रांतियों के बाद ही शुरू हुआ। इस विकास का क्या मतलब था यह इससे पता चलता है कि 1850 तो क्या सर्वहारा 1871 में भी शासन करने की स्थिति में नहीं पहुंचा था। बाद में, लेनिन ने इस पूरे दौर का सार–संकलन करते हुये इसे सर्वहारा क्रांति की तैयारी का दौर कहा तथा सूत्रित किया कि केवल साम्राज्यवाद सर्वहारा क्रांति की पूर्ववेला है।

यानी पूंजीवाद को न केवल,1850 में नहीं समाप्त होना था बल्कि इसे एक पूरे चरण–साम्राज्यवाद के चरण से भी गुजरना था।

पूरे मानव इतिहास का सही सार–संकलन और सूत्रीकरण–ऐतिहासिक भौतिकवाद, जिसकी सबसे संघनित अभिव्यक्ति मार्क्स का उपरोक्त उद्धरण है – करते हुए भी अपने समकालीन इतिहास के बारे में

मार्क्स और एंगेल्स गलत साबित हुये। अपने समकालीन समाज की गति का उनका आकलन गलत साबित हुआ। दूरगामी तौर पर सही होते हुए भी मार्क्स और एंगेल्स तात्कालिक तौर पर गलत साबित हो गये। इतिहास की गति उससे ज्यादा जटिल निकली जितना स्वयं मार्क्स–एंगेल्स भी सोच सकते थे। और इसने मार्क्सवाद की,ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी प्रस्थापना को ही एक बार फिर सही साबित किया। इतिहास ने मार्क्स और एंगेल्स के आकलन को गलत साबित करके उनके सूत्रीकरण को सही साबित कर दिया।

कुल मिला कर यह कि समाज व्यवस्था का परिवर्तन किसी की इच्छा मात्र से नहीं हो सकता। उसकी अपनी गति है। इस गति के खिलाफ जाने वाला या इससे आगे जाने वाला पहले से अभिशप्त है कि वह असफल हो।

पिछली क्रांतियों के इतिहास ने बार–बार यह प्रमाणित किया है कि सारी पार्टियों के संघर्ष और सारे नेताओं की जद्दोजहद के बाद, सारी मार–काट और उठा–पटक के बाद अंततः समाज वहीं स्थिर हुआ जहां समाज विकास की अवस्था के द्वारा – उत्पादक शक्तियों के विकास के द्वारा – निर्दिष्ट था। यदि क्रांतियों के दौरान ऐसा नेता या ऐसी पार्टियां सत्तानशीन हो गयी जो समय से आगे थीं तो या तो वे अपने ही सिद्धान्तों के खिलाफ काम करने को मजबूर हुयीं या फिर जब उन्होंने अपने सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयास किया तो उससे केवल समाज में तबाही ही आयी। यह क्रांतियों का वह आम नियम है जिससे महान से महान और प्रतिभावान से प्रतिभावान नेता भी नहीं बच सकता।

उपरोक्त सारी बातें हमें अतीत की क्रांतियों के मूल्यांकन का तथा भविष्य की क्रांतियों की संभावनाओं के आकलन का ठोस आधार प्रदान करती हैं। उपरोक्त बातों की रोशनी में हम अपनी क्रांतियों को समग्रता में समझ सकते हैं। उपरोक्त बातों की रोशनी में ही हम क्रांतियों की व्यापकता को समझ सकते हैं और इस बात को महसूस कर सकते हैं कि वर्गीय से वर्गविहीन समाज वाली क्रांति की तो बात ही क्या खुद एक वर्गीय व्यवस्था से दूसरी वर्गीय व्यवस्था में रूपान्तरण वाली क्रांति भी इतनी दुर्धुर्ष, जटिल और अक्सर कई चरणों वाली क्यों होती है।

II

पूंजीवादी क्रांति और समाजवादी क्रांति में अन्तर

"उन्नीसवीं सदी की सामाजिक क्रांति अतीत से नहीं वरन् भविष्य से ही अपनी प्रेरणा प्राप्त कर सकती है। वह उस समय तक अपना समारम्भ नहीं कर सकती जब तक अतीत सम्बन्धी अपने सभी मूढ़ विश्वासों को दूर न कर ले। पहले की क्रांतियों को स्वयं अपनी अंतर्वस्तु के सम्बन्ध में अपने को मदहोश करने के लिऐ विगत विश्व इतिहास की स्मृतियों

की आवश्यकता पड़ती थी। उन्नीसवीं शताब्दी की क्रांति के लिए जरूरी है कि अपनी अंतर्वस्तु प्राप्त करने के लिए जो बीत गया है, उसे भुला दे। पहली क्रांतियों के नारे उनकी अंतर्वस्तु से आगे निकल गये थे, यहां अन्तर्वस्तु नारों से आगे निकल जाती है। .....

"अठारहवीं शताब्दी की क्रांतियों जैसी पूंजीवादी क्रांतियां तूफानी चाल से कामयाबियों पर कामयाबियां हासिल करती हैं; उनकी प्रत्येक नाटकीय निष्पत्ति दूसरी को मात करती है; मनुष्य और वस्तुएं दोनों जगमगाते दिखाई देती हैं; उल्लास की भावना प्रतिदिन की भावना बन जाती है, किन्तु से सारी बातें अल्पजीवी होती हैं, वे शीघ्र ही अपने शिरोबिन्दु तक पहुंच चुकती हैं; समाज पर इसके पहले कि वह अपने पहले के तूफानी दौर के परिणामों को गंभीरतापूर्वक आत्मसात करना सीखे, एक खुमारी–भरा अवसाद छा जाता है। दूसरी ओर, उन्नीसवीं सदी की क्रांतियों जैसी सर्वहारा क्रांतियां निरंतर अपनी आलोचना करती हैं, आगे बढ़ते–बढ़ते स्वयं ही बार–बार रुक जाती हैं, जाहिरा तै किये हुये रास्ते पर फिर लौट आती हैं ताकि अपनी यात्रा दोबारा शुरू करें, अपने प्रथम प्रयासों की अपर्याप्तताओं, कमजोरियों और तुच्छताओं की निर्मम अद्यंत भर्त्सना करती हैं, शत्रु को मानो इसीलिए पटकती हैं कि वह धरती से नवीन बल प्राप्त कर और अधिक विराट होकर फिर उसके सामने आये; स्वयं अपने लक्ष्यों के अस्पष्ट से विराट आकार से बारं–बार झिझककर पीछे हट जाती है–तब तक, जब तक कि ऐसी परिस्थिति तैयार नहीं हो जाती जिसमें पीछे हटना बिल्कुल असंभव होता और अवस्थाएं स्वयं पुकार कर कहती है :

यहां गुलाब, नाचो यहां ! "

(कार्ल मार्क्स,'लुई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर', वही, खण्ड.1, भाग.2, पृष्ठ.133–135)

पूंजीवादी क्रांतियों का दौर बीत गया है। यह सर्वहारा क्रांतियों का, समाजवादी क्रांतियों का दौर है। और इन दोनों क्रांतियों में अंतर बहुत स्पष्ट है।

पूंजीवादी क्रांति एक वर्गीय व्यवस्था को दूसरी वर्गीय व्यवस्था में रूपान्तरित करती है। यह सामंती व्यवस्था को पूंजीवादी व्यवस्था में रूपान्तरित करती है। यह सामंती निजी सम्पत्ति को पूंजीवादी निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित करती है। इस तरह पूंजीवादी क्रांति के फलस्वरूप निजी सम्पत्ति, वर्ग, वर्गीय शासन तथा राज्य सत्ता समाप्त नहीं होते बल्कि वे बने रहते हैं, केवल उनका रूप बदलता है।

इसीलिए कि निजी सम्पत्ति बनी रहती है, केवल उसका रूप बदलता है, वर्ग बने रहते हैं केवल वे बदल जाते हैं, यह संभव होता है कि पूंजीवादी व्यवस्था धीमे–धीमे सामंती व्यवस्था के भीतर ही पैदा हो जाय। वास्तव में होता यही है कि एक लम्बे समय में सामंती व्यवस्था के भीतर पूंजीवादी व्यवस्था के अंकुर पैदा होते हैं और विकसित होते हैं। सामंती आर्थिक सम्बन्धों के साथ–साथ पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध कायम होते हैं और विकसित होते हैं। वे धीमे–धीमे सामंती आर्थिक सम्बन्धों को विस्थापित करने लगते हैं और एक समय आता है जब वे समाज में प्रधान बन जाते हैं।

यदि इसी बीच सामंती वर्ग पूंजीपति वर्ग के सामने आत्मसमर्पण कर दें तो समाज धीमे– धीमे बिना क्रांति के भी पूर्णतया पूंजीवादी बन सकता है। लेकिन होता यह है कि सामंती वर्ग इस या उस हद तक

प्रतिरोध करते हैं और तब उन्हें बलपूर्वक रास्ते से हटाने के लिए पूंजीपति वर्ग को क्रांति करनी पड़ती है। क्रांति के द्वारा राज्य सत्ता पर कब्जा करके पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास के रास्ते में आ रही बाधाओं को हटा देता है तथा अंततः पूंजीवादी व्यवस्था स्थापित हो जाती है। पूंजीपति वर्ग आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक तौर पर समाज का स्वामी हो जाता है।

इस तरह सामंती व्यवस्था के पूंजीवादी व्यवस्था में रूपान्तरण में पूंजीवादी क्रांति यानी पूंजीपति वर्ग द्वारा राज्य सत्ता पर कब्जा समूची रूपान्तरण प्रक्रिया का अंतिम बिंदु, शिरोबिंदु होती है। यानी राजनीतिक क्रांति के द्वारा समूची प्रक्रिया अपनी पूर्णता तक, अंत तक पहुंचती है। यहां राजनीतिक क्रांति, सामाजिक–आर्थिक क्रांति का अंत उसका चरम होती है।

रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में ही यह निहित है कि यह रूपान्तरण बिना क्रांति के, क्रमिक परिवर्तन से ही पूरा हो जाय। क्रमिक परिवर्तन से सामंती वर्ग पीछे हट जाय (या उसका पूंजीवादीकरण हो जाय) जबकि पूंजीपति वर्ग समाज में हावी हो जाय। इतिहास में ज्यादातर हुआ भी यही है।

इसके बरक्स समाजवादी क्रांति वर्गीय व्यवस्था को वर्गविहीन व्यवस्था में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया शुरू करती है। इसका लक्ष्य निजी सम्पत्ति के एक रूप के बदले दूसरे रूप की स्थापना नहीं बल्कि उसका खात्मा होता है। चूंकि निजी सम्पत्ति स्वतः ही धीमे–धीमे सामूहिक सम्पत्ति में रूपान्तरित नहीं हो सकती, निजी सम्पत्ति के मालिक स्वतः ही अपनी सम्पत्ति नहीं छोड़ सकते, इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध धीमे–धीमे पैदा नहीं हो सकते। केवल इन सम्बन्धों के पैदा होने का भौतिक आधार ही पूंजीवादी समाज में पैदा हो सकता है।

इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था के साम्यवादी व्यवस्था में रूपान्तरण में समाजवादी क्रांति समूची प्रक्रिया का प्रस्थान बिन्दु मात्र होती है। यहां से समूची प्रक्रिया शुरू होती है। यह प्रक्रिया सत्ता पर सर्वहारा द्वारा कब्जे यानी राजनीतिक क्रांति से शुरू होती है। सामाजिक क्रांति इसके बाद आती है। यानी यहां रूपान्तरण का विकास क्रम उल्टा होता है। यहां राजनीतिक क्रांति से प्रक्रिया शुरू होती है जबकि पूंजीवादी रूपान्तरण में इससे प्रक्रिया समाप्त होती थी।

इसी से यह भी स्पष्ट है कि क्यों बिना क्रांति के समाजवादी समाज की स्थापना संभव नहीं है। किसी भी तरह के क्रमिक विकास से पूंजीवादी समाज समाजवादी समाज में नहीं बदल सकता।

पूंजीवादी क्रांतियों और सर्वहारा क्रांतियों के चरित्र में इस फर्क के कारण ही वह फर्क पैदा होता है जिसे उपरोक्त उद्धरण में मार्क्स ने चिह्नित किया है।

एक वर्गीय व्यवस्था से दूसरी वर्गीय व्यवस्था में कुछ आम समानता के कारण ही पूंजीवादी क्रांतियां अपनी प्रेरणा के लिए अतीत की ओर देख सकती थीं। उन्हें अतीत में प्रेरणा की चीज मिल सकती थी। लेकिन वर्गीय व्यवस्था से वर्गविहीन व्यवस्था की ओर जाने वाली होने के कारण ही सर्वहारा क्रांतियां अतीत की ओर प्रेरणा के लिए मुखातिब नहीं हो सकतीं। वे केवल भविष्य से ही प्रेरणा ग्रहण कर सकती हैं। अतीत की क्रांतियों में उनके लिए कुछ सबक तो हैं पर प्रेरणा नहीं। वह हो भी नहीं सकती।

पूंजीपति वर्ग की क्रांति अल्पसंख्या की – पूंजीपति वर्ग की क्रांति है लेकिन इसे पूरा करने के लिए पूंजीपति वर्ग को बाकी शोषित वर्गों को साथ लेना पड़ा। और इसके लिए इन क्रांतियों को वे नारे देने पड़े

जो इनकी अंतर्वस्तु से काफी आगे थे। इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग की क्रांति बहुसंख्या की क्रांति है और इसे इसकी कोई जरूरत नहीं कि वह अपने नारे अपनी अंतर्वस्तु से आगे ले जाय। वस्तुतः चूंकि यह सारा समाज भविष्य से निकल कर आना है, यानी इस क्रांति की अंतर्वस्तु भविष्य की चीज है, जबकि नारे अतीत से या ज्यादा से ज्यादा वर्तमान से प्रेरित होते हैं इसलिए यहां अंतर्वस्तु नारों से आगे निकल जाती है।

दोनों क्रांतियों के विकास क्रम में फर्क भी इनके चरित्र से तय होता है।

पूंजीवादी क्रांति एक प्रक्रिया का चरम बिन्दु है इसीलिए इसमें व्यक्तियों–घटनाओं की गति इतनी तेज होती है, कामयाबियों पर कामयाबियां मिलती हैं। लेकिन चूंकि क्रांति ने अपने बारे में यह घोषित कर रखा होता है जो वह होती नहीं इसलिए जल्दी ही सारी प्रक्रिया चरम बिन्दु पर पहुंच कर ठहर जाती है तथा खुमारी और अवसाद का वातावरण छा जाता है। इसके बरक्स सर्वहारा क्रांतियां चूंकि समूची प्रक्रिया का शुरूआत होती है, उस प्रक्रिया की जो भविष्य में छिपी हुयी है इसलिए वे रुक–रुक कर विकास करती हैं। वे सरपट नहीं भाग सकती इसीलिए कि भविष्य यानी रास्ता सामने खुला नहीं है। रास्ता टटोलना है, बनाना है और फिर चलना है। यदि गलत रास्ते पर चले गये तो वापस लौट कर फिर चलना है। न केवल वापस लौट कर फिर चलना है बल्कि पुराने रास्ते की निर्मम आलोचना भी करनी है जिससे उन्हें दुहराने से बचा जा सके। बार–बार ऐसा करके वह जमीन तैयार होती है जिससे अंततः कम्युनिज्म में छलांग लगायी जा सकती है।

इन अंतरों के बावजूद दोनों तरह की क्रांतियों में यह समानता है कि पुरानी समाज व्यवस्था को एक झटके से समाप्त करना सम्भव नहीं होता। क्रांतियों का समूचा इतिहास यह दिखाता है कि एक वर्गीय व्यवस्था से दूसरी में रूपान्तरण, सामंती व्यवस्था से पूंजीवादी व्यवस्था में रूपान्तरण भी इतना सीधा सरल नहीं होता। पुराने शासक वर्ग न तो इतनी आसानी से इतिहास का रास्ता छोड़कर हट जाते हैं और न ही, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, उनकी विचारधारा इतनी आसानी से विलीन हो जाती है। पुराने शासक वर्ग एक लम्बे समय तक अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते रहते हैं। वे इंच–इंच जमीन के लिए संघर्ष करते हैं। उनकी विचारधारा तो और भी मजबूत साबित होती है क्योंकि वह न केवल शासकों की बल्कि शोषितों के दिमागों में भी मौजूद होती है। खुद शोषित वर्ग उससे एक लम्बे समय में मुक्त हो पाते हैं, उन विचारों से जिनसे पहले के शासक वर्गों के शासन ने वैधानिकता हासिल की होती है।

इंग्लैड और फ्रांस दोनों देशों का इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है। फ्रांस में तो 1789.94 की महान क्रांति के बाद तीन अन्य क्रांतियों की आवश्यकता हुई। सामंती मलवे की सफाई के लिए। 1848 और 1871 की क्रांतियां तो सर्वहारा क्रांतियां ही थीं। यानी सर्वहारा क्रांतियों के धक्के और अपनी महान क्रांति के बाद पूरी एक शताब्दी ने कहीं जाकर फ्रांस को इस योग्य बनाया कि वह सामंती कूड़े–कचरे से अपने को मुक्त कर सके। वह अपने को पूंजीवादी जनतंत्र में रूपान्तरित कर सके। यह इस सबके बावजूद कि 1789.94 की महान क्रांति के बाद ही फ्रांस एक पूंजीवादी देश बन चुका था। सामंती कूड़े–कचरे से रहित पूंजीवादी देश कैसा हो सकता है यह 1815 या यहां तक कि 1850 के फ्रांस की आज के फ्रांस से तुलना करके जाना जा सकता है।

यह सब केवल इसलिए होता है कि मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं लेकिन अपने मन से नहीं बल्कि अतीत द्वारा दी गयी परिस्थितियों में। 'अतीत की समस्त स्मृतियां उनके मस्तिष्क पर बोझ की तरह छाई होती हैं।' इस तरह क्रांतिकारियों को खुद अपना रूपान्तरण करने में, अतीत से मुक्त होने में एक लम्बा वक्त लग जाता है। पूंजीवादी क्रांति में मुक्ति की यह प्रक्रिया अचेत तरीके से सम्पन्न होती है तो समाजवादी क्रांति में सचेत तरीके से।

यदि एक वर्गीय समाज से दूसरे वर्गीय समाज में रूपान्तरण की यह प्रक्रिया इतनी लम्बी और जटिल साबित होती है तो यह समझ में आने वाली बात है कि वर्गीय समाज से वर्गविहीन समाज में रूपान्तरण की प्रक्रिया कितनी लम्बी, जटिल और दुरूह होगी। यहां तो इंसान को वह सब, या उसका ज्यादातर हिस्सा भुलाना है जो उसने हजारों सालों के निजी सम्पत्ति के प्रभुत्व के जमाने में सीखा था। निजी सम्पत्ति की सारी बातें उसे वर्गविहीन समाज की ओर बढ़ने से रोकती ही नहीं हैं बल्कि फिर निजी सम्पत्ति की ओर खींच कर लाने का प्रयास करती हैं। यदि पूंजीवादी क्रांतियों में सामंती शासन की बार–बार पुनर्स्थापना होती थी तो यहां यह और भी ज्यादा होता है। यहां पुनर्स्थापना का खतरा और ज्यादा होता है क्योंकि यहां सामाजिक संक्रमण अतुलनीय रूप से ज्यादा मूलभूत और इसलिए ज्यादा कठिन होता है।

पहले यह भले न स्पष्ट रहा हो लेकिन बीसवीं सदी के सभी समाजवादी समाजों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना से यह भली–भांति स्पष्ट हो गया है। यह स्पष्ट हो गया है कि सर्वहारा क्रांतियों के बारे में, उनकी जाहिरा तै किये हुए रास्ते पर फिर लौट आने के बारे में मार्क्स की उपरोक्त बात का कितना भारी महत्व है। अब इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं कि पूंजीवादी समाज से साम्यवादी समाज में यह रूपान्तरण कुछ सालों या दशकों का नहीं बल्कि शताब्दियों का काम है। कि इसमें कई बार पुनर्स्थापना से गुजरना पड़ सकता है। कि केवल इसी तरह से वह जमीन तैयार हो सकती है जिस पर साम्यवादी समाज कायम हो सकता है।

स्पष्ट ही है कि इस मामले में समानता होने के बावजूद पूंजीवादी और सर्वहारा क्रांतियों में भारी अन्तर मौजूद है। यह अंतर मात्रा का ही नहीं गुण का भी है क्योंकि मात्रा गुण में रूपान्तरित हो जाती है।

पूंजीवादी क्रांति और सर्वहारा क्रांति में एक और फर्क मौजूद है। यह फर्क है वैचारिक प्रभुत्व का। पूंजीवादी क्रांति में वास्तविक क्रांति यानी सत्ता पर कब्जे से पहले पूंजीपति वर्ग का समाज में एक हद तक वैचारिक वर्चस्व कायम हो जाता है। इस तरह वहां राजनीतिक क्रांति से पहले वैचारिक क्रांति होती है। ऐसा इसलिए सम्भव होता है कि पूंजीवाद में राजनीतिक क्रांति समूचे रूपान्तरण का शिरोबिंदु होती है। नये पूंजीवादी सम्बन्ध समाज में अस्तित्व में आ जाते हैं और वे तदनुरूप विचारों को भी जन्म देते हैं। समाज में धीमे–धीमे ये विचार प्रभावशाली हो जाते हैं। इन विचारों के समाज में प्रभुत्वशाली बन जाने की स्थिति और ज्यादा सुलभ इसलिए होती है कि पूंजीपति वर्ग एक सम्पत्तिशाली वर्ग होता है और अपने विचारों के प्रसार के लिए उसके पास पर्याप्त संसाधन होते हैं। उसे संसाधनों की कमी नहीं होती है। इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग साधनविहीन वर्ग होता है। उसके पास प्रचार के साधन सीमित होते हैं। खासकर एकाधिकारी पूंजीवाद के जमाने में वह प्रचार के संसाधनों के मामले में पूंजीपति वर्ग का मुकाबला नहीं कर सकता। दूसरी और

उसके उत्पादन सम्बन्ध सर्वहारा क्रांति से पहले समाज में स्थापित नहीं हो सकते। इसीलिए उसके विचारों की स्वीकार्यता की जमीन अभी अपेक्षाकृत कम तैयार होती है। इन कारणों से राजनीतिक क्रांति से पहले सर्वहारा समाज में वह वैचारिक प्रभुत्व नहीं हासिल कर सकता जो पूंजीपति वर्ग अपनी क्रांति से पहले हासिल कर लेता है। इसलिए सर्वहारा क्रांति में वैचारिक क्रांति की भूमिका पहले से सीमित हो जाती है। इसके मुकाबले सर्वहारा क्रांति में संगठन (पार्टी) और सांगठनिक ताने–बाने की भूमिका बढ़ जाती है। संगठन या पार्टी की भूमिका सर्वहारा क्रांति में पूंजीवादी क्रांति के मुकाबले अतुलनीय रूप से ज्यादा होती है। क्रांति से पहले बहुत कम सर्वहारा को समेटने वाला पार्टी का ताना–बाना क्रांतिकारी काल में व्यापक सर्वहारा को अपने झंडे तले गोलबंद कर लेता है। वैचारिक प्रभुत्व की कमीं की क्षतिपूर्ति आसानी से सांगठनिक ताने–बाने से हो जाती है।

III

क्रांतिकारी परिस्थिति

"मार्क्सवाद के लिए यह निर्विवाद है कि क्रांतिकारी परिस्थिति के बिना क्रांति असंभव है, इसके अलावा हर क्रांतिकारी परिस्थिति भी क्रांति का कारण नहीं बनती। मोटे तौर पर क्रांतिकारी परिस्थिति के लक्षण क्या हैं? अगर हम नीचे के तीन मुख्य लक्षण गिनाएं तो निश्चित ही कोई गलती नहीं करेंगे : (1) जब शासक वर्गों के लिए बिना किसी तबदीली के अपना शासन करना असंभव हो जाय; जब एक न एक रूप में "उच्च वर्गों" के भीतर संकट हो, शासक वर्गों की नीति में संकट हो, जिससे एक ऐसी दरार पैदा हो जाये, जिसमें से उत्पीड़ित वर्गों का असंतोष और रोष फूट पड़े। क्रांति होने के लिए आम तौर से ''निचले वर्गों'' का पुराने ढंग रहना "न चाहना" नाकाफी होता है, उसके लिए यह भी जरूरी है कि "उच्च वर्ग" पुराने ढंग से रहने में असमर्थ हो जायं; (2) जब उत्पीड़ित वर्गों का दुःख और गरीबी सामान्य से अधिक तीक्ष्ण हो जायं; (3) जब उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप उन जनसमुदायों की सरगर्मी में काफी वृद्धि हो जाय, जो "शांतिमय" काल में बिना शिकवा–शिकायत के अपने को लुटने देते हैं लेकिन तूफानी वक्त में संकट की सामान्य परिस्थितियों द्वारा तथा **खुद "उच्च वर्गों" द्वारा** भी स्वाधीन ऐतिहासिक कार्यवाही में खींच लिए जाते हैं।

"इन वस्तुपरक परिवर्तनों के बगैर, जो न केवल अलग–अलग दलों और पार्टियों की, बल्कि अलग–अलग वर्गों की भी इच्छा पर निर्भर नहीं होते, क्रांति सामान्यतः असंभव होती है। इन सारे वस्तुपरक परिवर्तनों की समग्रता को क्रांतिकारी परिस्थिति कहते हैं। ऐसी

परिस्थिति 1905 में रूस में और सभी क्रांतिकारी दौरों में पश्चिम में मौजूद थी। वह पिछली सदी के सातवें दशक में जर्मनी में भी मौजूद थी और 1859–61 तथा 1879–80 में रूस में, हालांकि उन सूरतों में कोई क्रांति नहीं हुई। ऐसा क्यों हुआ? ऐसा इसलिए हुआ कि हर क्रांतिकारी परिस्थिति भी क्रांति को जन्म नहीं देती। क्रांति केवल ऐसी परिस्थिति से पैदा होती है जिसमें उपरोक्त वस्तुपरक परिवर्तनों के साथ एक आत्मपरक परिवर्तन भी, यानि क्रांतिकारी अवामी कार्यवाही करने की क्रांतिकारी **वर्ग** की क्षमता भी जुड़ी हो, जो उस पुरानी सरकार को, जिसे अगर ढहा न दिया जाय, तो उसका "पतन" कभी भी, संकट के दौर में भी, नहीं होगा, तोड़ देने (अथवा उसकी चूलें ढीली करने) के लिए पर्याप्त रूप से जोरदार हो।" लेनिन,'दूसरे इंटरनेशनल का पतन', संकलित रचनाएं दस खण्डों में, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1982, खण्ड.5, पृष्ठ–83–84,जोर मूल में)

"क्रांति का बुनियादी नियम, जिसे सब क्रांतियों ने और खासकर बीसवीं सदी में होने वाली रूस की तीनों क्रांतियों ने सही साबित कर दिया है यह है : क्रांति के लिए इतना ही काफी नहीं है कि शोषित तथा उत्पीड़ित जनसाधारण को पुराने ढंग से रहना असंभव समझने लगें और परिवर्तन की मांग करने लगें; क्रांति के लिए आवश्यक है कि शोषकों के लिए भी पुराने ढंग से रहना और शासन करना असंभव हो जाये। जब **"नीचे के वर्ग"** पुराना ढंग **नहीं चाहते** और जब **"ऊपर के वर्ग" पुराना ढंग नहीं चला सकते**–केवल उसी समय क्रांति की विजय हो सकती है। इस सत्य को दूसरे शब्दों में इस तरह व्यक्त किया जा सकता है : बिना एक सर्वराष्ट्रीय संकट के (जो शोषितों और शोषकों, दोंनों को स्पर्श करता है) क्रांति का होना असंभव है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि क्रांति के लिए आवश्यक है कि पहले, मजदूरों की बहुसंख्या (या कम से कम सचेत, विचारशील तथा राजनीतिक रूप से सक्रिय मजदूरों की बहुसंख्या) क्रांति की जरूरत को पूरी तरह से समझे और उसके वास्ते अपने प्राणों की आहुति देने के लिऐ तैयार हो; कि दूसरे शासक वर्ग एक ऐसे सरकार संबन्धी संकट से गुजर रहे हों जिसे सबसे पिछड़े हुए जनसाधारण भी राजनीति में खिंच आते हैं (हर सच्ची क्रांति की एक पहचान यह है कि मेहनतकश तथा उत्पीड़ित जनसाधारण के राजनीतिक संघर्ष में भाग लेने में सक्षम प्रतिनिधियों की, जो पहले उसके प्रति उदासीन रहते थे, संख्या यकायक दस गुनी, यहां तक कि सौ गुनी बढ़ जाती है), सरकार कमजोर हो जाती है और क्रांतिकारियों के लिए उसे जल्दी से जल्दी उलट देना संभव हो जाता है।" (लेनिन,वामपंथी कम्युनिज्म एक – बचकाना मर्ज, वही,खण्ड–, पृष्ठ 328–329, जोर मूल में)

किसी समाज व्यवस्था का ऐतिहासिक तौर पर कालातीत हो जाना ही क्रांति के लिए पर्याप्त नहीं है। यदि कोई व्यवस्था कालातीत हो गयी है, उसके उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के आगे विकास में बाधक बन गये हैं, तो इसका मतलब यह नहीं होता है कि वह व्यवस्था हमेशा क्रांतिकारी संकट की स्थिति में होती है। कि कुछ व्यक्तियों या पार्टियों (या यहां तक कि वर्गों की) इच्छा मात्र से, जब चाहे तब

क्रांति कर उस व्यवस्था को बदला जा सकता है। यानी कालातीत हो जाने के बावजूद समाज व्यवस्था निरंतर क्रांतिकारी संकट की स्थिति में नहीं होती।

इसके विपरीत ऐसे समाज में क्रांतिकारी संकट बीच–बीच में आते हैं। यदि क्रांतिकारी संकट के इन समयों में क्रांतिकारी वर्ग क्रांति करने में कामयाब हो जाते हैं तो बात बन जाती है अन्यथा कम या लम्बे समय के लिए मामला फिर टल जाता है। लुब्बे–लुबाब यह कि एक कालातीत समाज व्यवस्था में भी क्रांति मनचाहे हर समय सम्पन्न नहीं की जा सकती।

क्रांति के लिए क्रांतिकारी संकट, क्रांतिकारी परिस्थिति आवश्यक है हालांकि हर क्रांतिकारी परिस्थिति में क्रांति हो ही जाय, यह जरूरी नहीं। क्रांतिकारी परिस्थिति के लक्षणों में एक मुख्य लक्षण यह है कि इसमें जनता की भारी संख्या राजनीतिक रूप से सक्रिय हो जाती है। आम समयों में क्रांतिकारी वर्गों का केवल एक छोटा हिस्सा ही राजनीतिक रूप से सक्रिय होता है। क्रांतिकारी वर्गों के नेता, उसकी पार्टी और उससे जुड़े हुए लोग ही (जिनकी संख्या गैर क्रांतिकारी समय में काफी कम होती है) राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हैं। बाकी जनता राजनीतिक रूप से निष्क्रिय रहते हुए अपने दैनंदिन के जीवन में व्यस्त होती है। बल्कि कई बार ऐसा भी होता है कि व्यवस्था की सड़ांध से निराशा और पस्तहिम्मती इस कदर हावी हो जाती है कि आम जनता की राजनीतिक सक्रियता सामान्य से भी नीचे चली जाती है। इसे ही तूफान से पहले की शांति कहते हैं।

लेकिन क्रांतिकारी संकट की स्थिति में ठीक इसका उल्टा होता है। जैसा कि लेनिन कहते हैं, इस समय जनता के राजनीतिक रूप से सक्रिय प्रतिनिधियों की संख्या दस गुना यहां तक कि सौ गुना भी बढ़ जाती है। जनता या उसका भारी हिस्सा राजनीतिक तौर पर गतिमान हो जाता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी प्रस्थापना है कि इतिहास का निर्माण जनता करती है। यह तमाम क्रांतियों के अनुभव से निकाली गयी प्रस्थापना है। इसके अनुसार इतिहास को आगे बढ़ाने में निर्णायक भूमिका जनता की ही होती है। केवल जनता की ताकत से ही नेता और पार्टियां वह करने में कामयाब हो पाती हैं जो उन्होंने अपना लक्ष्य तय किया होता है। जनता से वंचित नेता और पार्टियां निःशक्त होती हैं। जनता के बिना कुछ लोगों द्वारा तख्ता पलट कर सत्ता पर कब्जा तो किया जा सकता है, क्रांति नहीं। यानि इस सत्ता दखल से समाज का वह आमूल–चूल रूपान्तरण नहीं किया जा सकता जो क्रांतियां करती हैं।

क्रांति के समय क्रांतिकारी जनता, क्रांतिकारी पार्टी और उसके नेता सभी एक ही तरंग पर सवार होते हैं और उनकी यह तरंग इतिहास विकास की तरंग के अनुरूप होती है। उस समय इन चारों में पूर्ण सामंजस्य होता है। चारों की सामंजस्य पूर्ण गति से ही क्रांति सम्पन्न होती है। यदि ऐसा नहीं होता तो क्रांति विफल हो जाती है। तब क्रांतिकारी संकट का अवसर गंवा दिया जाता है। अगले क्रांतिकारी संकट का इंतजार लाजिमी बन जाता है।

न केवल क्रांतिकारी संकट के समय जनता का भारी हिस्सा राजनीतिक तौर पर सक्रिय हो जाता है तथा क्रांति में जनता प्रत्यक्षतः व्यापक पैमाने पर भागीदारी करती है बल्कि इस दौरान क्रांतिकारी संघर्षों के रूपों को ज्यादातर जनता ही जन्म देती है। हर क्रांति अपने संघर्ष के रूपों को को जन्म देती है। संघर्ष

के ये रूप क्रांतिकारी पार्टी या नेताओं द्वारा नहीं प्रस्तुत किये जाते। बल्कि होता अक्सर यह है कि नेता और पार्टियां पहले की क्रांतियों के रूपों से बंधे होते हैं। इतिहास के ज्ञान से लैस होने के कारण वे उसके बोझ से लदे भी होते हैं। इसलिए वे अक्सर संघर्ष के पुराने रूप ही सुझाते हैं, वे रूप जो नयी परिस्थितियों से बेमेल होते हैं। इसके मुकाबले जनता इतिहास के अनुभव से नहीं बल्कि अपने अनुभव से प्रस्थान कर रही होती है तथा उसी के अनुरूप नये–नये रूपों को जन्म दे रही होती है। ये रूप जनता के भीतर से पैदा होते हैं और देखते ही देखते पूरे क्रांतिकारी संघर्ष पर छा जाते हैं। सही मायने में क्रांतिकारी पार्टी केवल करती यह है कि वह इन नये रूपों का सामान्यीकरण करती है तथा उन्हें मांजकर हर जगह फैला देती है। संघर्ष के रूपों के मामले में भी जनता ही इतिहास की निर्माता साबित होती है।

ऐसे में क्रांतिकारी पार्टी और नेता कहां ठहरते हैं? क्रांतिकारी संकट को पैदा करने में और स्वयं क्रांति के दौरान उनकी क्या भूमिका होती है?

यह मानी हुयी बात है कि राजनीतिक संघर्ष में हर वर्ग का नेतृत्व उसकी पार्टियां करती हैं तथा पार्टियों का नेतृत्व नेता करते हैं। ये ही अपने वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि होते हैं। इनके बिना वर्ग वैसे ही हो जाता है जैसे सिर के बिना धड़।

गैर क्रांतिकारी समय में क्रांतिकारी पार्टी और उसके नेता देश और दुनिया के पैमाने पर चल रहे वर्ग संघर्ष का सार–संकलन करते हैं तथा इससे निकाले हुए निष्कर्षों से अपने वर्ग को लैस करने का प्रयास करते हैं। वे अपने वर्ग को, उसके ज्यादा से ज्यादा हिस्से को राजनीतिक तौर पर शिक्षित करते हुए उसे अपने पीछे लामबंद करने का प्रयास करते हैं। साथ ही वे चल रहे राजनीतिक संघर्ष में अपने वर्ग को उतार कर राजनीतिक संघर्ष को क्रांतिकारी संकट की तरफ धकेलने का प्रयास करते हैं। एक बार जब क्रांतिकारी संकट पैदा हो जाता है तब वे सत्ता पर कब्जा करने के लिए अपने वर्ग का नेतृत्व करते हैं तथा सत्ता पर कब्जा हो जाने के बाद नये समाज के निर्माण में भी वे जनता को नेतृत्व प्रदान करते हैं। बिना अपने नेताओं और पार्टी के जनता बगावत तो कर सकती है लेकिन क्रांति नहीं, यानी सत्ता पर कब्जा और नये समाज का निर्माण नहीं। बिना हाथ–पांव के मस्तिष्क निरर्थक होता है तथा बिना मस्तिष्क के हाथ–पांव पंगु।

लेकिन क्रांतिकारी संकट को पैदा करने में क्रांतिकारी पार्टी की भूमिका सीमित होती है। वह इस संकट को लाने में किंचित भूमिका तो निभाती है लेकिन प्रधान भूमिका वस्तुगत कारकों की होती है। कोई क्रांतिकारी पार्टी अपने बूते पर क्रांतिकारी संकट पैदा नहीं कर सकती। यहां भी इतिहास में वस्तुगत और आत्मगत शक्तियों की वही द्वन्द्वात्मक गति होती है।

स्वयं क्रांतिकारी पार्टियों का निर्माण क्रांतिकारी संकट से विच्छिन्न नहीं होता। ऐसा नहीं हो सकता कि क्रांतिकारी संकट एक लम्बे समय से निर्मित होता रहा हो या विद्यमान हो लेकिन क्रांतिकारी पार्टी अस्तित्व में न आये। निर्मित होता या परिपक्व होता क्रांतिकारी संकट क्रांतिकारी तत्वों को आगे लायेगा और वे संगठित होकर क्रांतिकारी पार्टी का निर्माण करेंगे। अन्यथा नहीं हो सकता। इसकी उल्टी बात भी सच है। यदि एक लम्बे समय तक क्रांतिकारी संकट अनुपस्थित है तो क्रांतिकारी पार्टी या तो अपनी एकता बनाये नहीं रख पायेगी और वह टूट–टूट कर गुटों, पंथों में बिखर जायेगी या वह सुधारवादी होकर शासक

वर्ग की पांतों में समाहित हो जायेगी। क्रांतिकारी जनता के बिना उसकी क्रांतिकारी पार्टी भी लम्बे समय तक विद्यमान नहीं रह सकती। समाज व्यवस्था के सामान्य संकट की उपस्थिति में क्रांतिकारी पार्टी गठित की जा सकती है लेकिन वह आगे बढ़ कर जन–जन की पार्टी नहीं बन सकती जबकि टूट–फूट तथा सुधारवाद और संकीर्णतावाद का भयंकर खतरा लगातार उसके सामने विद्यमान रहेगा। क्रांतिकारी संकट ही क्रांति को जन्म देता है और सही मायने में क्रांतिकारी वर्ग की पार्टी और नेताओं को भी।

इंग्लैंड के इतिहास ने दो बार इसे तीखे ढंग से प्रमाणित किया। 1645 से निर्मित होता लेवेलर आन्दोलन और उसकी पार्टी 1648 के बाद एक झटके से बिखर गये। उसके बाद वही नेता अपनी पार्टी या आन्दोलन को दुबारा खड़ा नहीं कर पाये। इसी तरह 1830 के दशक से निर्मित होता चार्टिस्ट आन्दोलन 1848 के प्रदर्शन के बाद बिखर गया और वह दुबारा नहीं खड़ा हो पाया। पिछली शताब्दी के दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन के बिखरने के इतिहास में भी इसे देखा जा सकता है।

पार्टी और आन्दोलन के बिखरने में तात्कालिक तौर पर एक दूसरे पर दोषारोपण किये जाते हैं और यकीनन इनमें कई भूलों–गलतियों की तथा गद्दारियों की भारी भूमिका होती भी है। लेकिन दूरगामी तौर पर देखने पर इसमें वस्तुगत कारकों की भूमिका ही प्रधान होती है। वस्तुगत कारकों के अनुकूल होने पर भूलों–गलतियों या गद्दारियों से देर–सबेर निबटा जा सकता है, उन पर काबू पाया जा सकता है। यह नहीं भूलना चाहिये कि भूलों–गलतियों तथा गद्दारियों की भी वस्तुगत जमीन होती है। दूसरे इंटरनेशनल के पतन और इसके नेताओं की गद्दारियों की वस्तुगत जमीन थी। केवल एक भिन्न जमीन पर ही लेनिन और लेनिनवाद पैदा हो सके।

जब वस्तुगत परिस्थितियां क्रांतिकारी न हों तो सारी सामाजिक प्रक्रिया वस्तुगत तौर पर सुधारवादी हो जाती है। ऐसे समय में क्रांतिकारी पार्टी और नेता जो करते हैं उसका वस्तुगत प्रभाव केवल सुधार तक सीमित होता है। उनके न चाहने के बावजूद उनके कार्य का परिणाम सुधारवादी होता है। यानि वे वस्तुगत तौर पर सुधारवादी होते हैं। वस्तुगत तौर पर यह सुधारवाद क्रांतिकारी पार्टी और उसके नेताओं को हजारों तरीकों से आत्मगत तौर पर सुधारवाद यानि सुधारवादी विचारधारा की ओर धकेलता है। इससे स्पष्ट है कि क्यों गैर क्रांतिकारी समय में इतनी सारी क्रांतिकारी पार्टियां और नेता सुधारवादी हो जाते हैं। केवल कुछ ही लोग वस्तुगत परिस्थितियों के इस दबाव से बच पाते हैं लेकिन वे भी अपने वर्ग से कट जाने पर मजबूर होते हैं। गैर क्रांतिकारी समय में केवल सुधारवादी लोग ही व्यापक जनता में अपना आधार बनाये रखने में कामयाब हो पाते हैं बल्कि ऐसा करने के प्रयास में वे सुधारवाद तथा व्यवस्था में समाहित होने की सारी सीमाओं को पार कर जाते हैं। और जब जमाना बदलता है, क्रांतिकारी परिस्थितियां आती हैं तो जनता तो क्रांति के लिए सड़कों पर आ जाती है लेकिन ये लोग अपने–आपको जनता के साथ नहीं बल्कि शत्रु के खेमे में पाते हैं; जनता के खिलाफ लड़ते हुए।

IV

क्रांति में विभिन्न क्रांतिकारी पार्टियों और नेताओं की भूमिका

"अभी तक जितनी क्रांतियां हुई हैं, उन सबका परिणाम यह हुआ है कि किसी एक खास वर्ग के शासन की जगह दूसरे वर्ग का शासन स्थापित हुआ है; लेकिन अभी तक सभी शासक वर्ग शासित जन–समुदाय की तुलना में अल्पसंख्यक ही रहे हैं। इस प्रकार एक शासक अल्पमत का तख्ता उलट दिया जाता, उसकी जगह दूसरा अल्पमत राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले लेता और राज्य–संस्थाओं की अपने हितों के अनुरूप पुनर्रचना करता। प्रत्येक अवसर पर यह वही अल्पसंख्यक समूह था, जो आर्थिक विकास की विद्यमान मात्रा की दृष्टि से शासन करने के योग्य था और शासन करने के लिए आहूत था; और ठीक इसी कारण से–तथा केवल इसी कारण से–हुआ यह कि शासित बहुमत ने या तो अल्पमत के हित में क्रांति में भाग लिया या चुपचाप इसे स्वीकार कर लिया। परन्तु यदि हम प्रत्येक मामले में ठोस अंतर्वस्तु पर ध्यान न दें, हम देखते हैं कि इन सभी क्रांतियों का सामान्य रूप यह था कि ये सब अल्पमत की क्रांतियां थीं। बहुमत ने जब उनमें भाग लिया भी, तो उसने जाने या अनजाने अल्पमत के हित में ही लिया; परन्तु इस कारण से या सिर्फ बहुमत के निष्क्रिय, प्रतिरोध शून्य दृष्टिकोण के कारण ही, इस अल्पमत ने समस्त जनता के प्रतिनिधि की शक्ल अख्तियार कर ली।

"सामान्यतः पहली महान सफलता के बाद विजयी अल्पमत दो हिस्सों में बंट जाता – एक हिस्सा उपलब्ध सफलताओं से संतुष्ट होता है और दूसरा और आगे जाना चाहता और नयी मांगे पेश करना चाहता, जो कम से कम कुछ हद तक विशाल जन समुदाय के भी वास्तविक अथवा प्रतीयमान हितों से मेल खाती थीं। विशेष स्थितियों में ये अग्रतर मांगें वास्तव में पूरी करवा ली जाती, लेकिन ज्यादातर ऐसा वक़्ती तौर पर ही होता; अधिक नरम पार्टी का पलड़ा फिर भारी हो जाता है और पिछली बार की सफलता पूर्णतःया अंशतः गंवा दी जाती और तब पराजित दल या तो चिल्ला–चिल्लाकर गद्दारी का इलजाम लगाता या अपनी हार को संयोग की बात बताता। लेकिन दरअसल इस मामले में सचाई अधिकांशतः यह होती : पहली विजय की उपलब्धियां अधिक उग्र पार्टी की दूसरी विजय द्वारा ही सुरक्षित होती; यह हो जाने के बाद, और इसके साथ फिलहाल जो जरूरी था, वह हो जाने के बाद, उग्रवादी और उनकी उपलब्धियां रंग–मंच से गायब हो जाते।" (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष की भूमिका',वही,पृष्ठ–235–.236)

"परन्तु तमाम क्रांतियों की यह नियति होती है कि विभिन्न वर्गों की यह एकता, जो हर क्रांति के लिए हमेशा कुछ मात्रा में आवश्यक शर्त हुआ करती है, ज्यादा देर तक नहीं टिक सकती। समान शत्रु पर विजय हुई नहीं कि विजेता विभिन्न खेमों में बंट जाते हैं और

अपने हथियारों को एक दूसरे के विरुद्ध उठाते हैं। वर्ग वैरभाव का यही वह द्रुत तथा संवेगपूर्ण विकास है जो पुराने तथा संजटिल सामाजिक ढ़ांचे के अन्दर क्रांति को सामाजिक तथा राजनीतिक प्रगति का इतना सशक्त माध्यम बनाता है; एक के बाद फौरन दूसरी नयी पार्टी के सत्तारूढ़ होने का यही वह अविराम क्रम है जो उन उग्र उथल–पुथलों के जमाने में राष्ट्र से पांच वर्षों के दौरान उससे ज्यादा फासला तय करा देता है जितना तय करने में उसे साधारण परिस्थितियों में एक शताब्दी का समय लगता।" (एंगेल्स, 'जर्मनी में क्रांति तथा प्रतिक्रांति', वही, खण्ड.1 भाग.2, पृष्ठ–41)

क्रांतियां हमेशा नीचे से शुरू होती हैं और लगातार ऊपर उठती जाती हैं। वे ऊपर उठ कर उस बिन्दु से काफी ऊपर निकल जाती हैं जहां समाज विकास की वस्तुगत स्थिति उसे स्थिर करने वाली होती है। इस तरह सारी क्रांतियां अति का शिकार होती है। वे दूसरे छोर पर जाकर ही समाज को कहीं बीच में स्थिर कर पाती हैं। मानो एक ओर मुड़ी हुई किसी चीज को सीधा करने के लिए उसे दूसरी ओर मोड़ना आवश्यक हो। संक्षेप में 'अति' क्रांति का अभिन्न हिस्सा है। इसके बिना कोई क्रांति वह नहीं हासिल कर सकती जो उसका अभीष्ट होता है।

सभी क्रांतियां सारे क्रांतिकारी वर्गों के न्यूनतम आम हित के बिन्दु से शुरू होती है। यह साझा आम हित ही उन्हें शासक वगों के खिलाफ एकजुट करता है। वे मिलकर शासक वर्ग पर हमला करते हैं। लेकिन इस न्यूनतम आम हित के पूरा होते ही क्रांतिकारी वर्गों के साझे मोर्चे में दरार पड़ जाती है। कुछ वर्ग इस हित के पूरा होते ही संतुष्ट हो जाते हैं। वे और आगे जाना नहीं चाहते। यही नहीं, वे और आगे जाने में अपने वर्ग हितों को खतरे में देखते हैं। इसलिए वे आगे जाने का विरोध करते हैं। वे क्रांतिकारी पांतों से बाहर निकल जाते हैं। वे नरम, रूढ़िवादी या यहां तक कि क्रांति विरोधी भी हो जाते हैं। आगे जाने वालों का विरोध करने के लिए वे कभी–कभी पुराने शासक वर्गों से समझौता भी करने लगते हैं।

जबकि दूसरे वर्गों को आगे जाना होता है। उनके अपने हित यह मांग करते हैं कि वे आगे जायं। केवल क्रांति को आगे बढ़ाकर ही, उसे और ज्यादा उग्र बनाकर ही उनके वर्गीय हितों की पूर्ति हो सकती है। इसके लिए वे नरम पड़ चुके वर्गों को पीछे छोड़कर या अक्सर ही उसे बलपूर्वक कुचलकर आगे बढ़ते हैं। वे क्रांति के अगले चरण में प्रवेश करते हैं।

लेकिन यहां पहुंच कर फिर कुछ वर्ग नरम पड़ जाते हैं। अब इनके हित पूरे हो जाते हैं तथा वे और आगे जाने का विरोध करने लगते हैं। पर अन्य वर्गों को तो आगे जाना होता है। और वही प्रक्रिया फिर दुहरायी जाती है।

इस प्रकार क्रांति एक के बाद दूसरी लहर पर सवार होकर आगे बढ़ती जाती है। एक के बाद दूसरे वर्ग पीछे छूटते जाते हैं। पीछे छूटने वाले वर्गों का क्रम उनके पास सम्पत्ति के हिसाब से होता है। सबसे बड़ी सम्पत्ति वाले पहले पीछे छूटते हैं तथा कम सम्पत्ति वाले बाद में। अंत में सम्पत्तिविहीन लोग क्रांति को धकेलकर उसे उसके शिरोबिन्दु पर पहुंचा देते हैं। क्रांति अपने चरम पर पहुंच जाती है।

लेकिन क्रांति इस बिन्दु पर टिकेगी या नहीं यह इस बात से तय होता है कि समाज विकास की अवस्था क्या है। एक समय तक तनावपूर्ण स्थिति में रहने के बाद समाज उस स्थिति में लौट आता है,जहां समाज विकास की अवस्था उसे स्थिर करने के लिए सबसे अनुकूल होती है।

उपरोक्त प्रक्रिया सभी पूंजीवादी क्रांतियों में हुयी और किंचित भिन्न रूप में यही प्रक्रिया सर्वहारा क्रांति में घटित होती है।

वर्गों के अनुरूप ही क्रांति में पार्टियों और नेताओं की भूमिका होती है। पार्टियां और नेता अपने वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं। समाज में अपने वर्ग के अनुरूप ही क्रांति में भी वे वही भूमिका ग्रहण करते हैं। क्रांतिकारी वर्गों में सबसे ज्यादा सम्पत्तिवान तथा पुराने शासक वर्ग के सबसे ज्यादा नजदीक वर्गों की पार्टियां और नेता सबसे ज्यादा नरमपंथी होते हैं जबकि सम्पत्तिविहीनों की पार्टी और नेता सबसे ज्यादा उग्रपंथी। बीच के वर्गों की पार्टियां और नेताओं की बीच की स्थिति होती है।

क्रांति की उपरोक्त गति के कारण ही क्रांतिकारी पार्टियों और नेताओं में भीषण संघर्ष चलता है। ऊपरी तौर पर क्रांतिकारी नेताओं के बीच यह संघर्ष अर्थविहीन लगता है और केवल व्यक्तिगत सत्ता के लिए मारा–मारी लगता है। लेकिन उसकी तह में छिपा होता है वर्गों का संघर्ष और क्रांति की ऊर्ध्वमान गति। क्रांति की नीचे से ऊपर गति नेताओं की आपसी मारा–मारी में अभिव्यक्त हो रही होती है।

क्रांति अपने जनकों को खा जाती है क्योंकि वह उनकी मांस–मज्जा ग्रहण कर ही फलती–फूलती है। क्रांति के वे नेता जो क्रांति को आगे बढ़ाने से इंकार कर देते हैं वे क्रांति की अग्रगति में बाधा बन जाते हैं। केवल उन्हें धराशायी कर ही, उन्हें गिलोटिन पर चढ़ा कर ही क्रांति आगे बढ़ सकती है और वह आगे बढ़ती है। क्रांति यदि इतिहास का इंजन है तो उसके बहुत सारे ड्राईवरों का उसके पहियों द्वारा कुचल दिया जाना इंजन के आगे बढ़ने के लिये आवश्यक है। उन्हें पहिये के नीचे डालने का पुनीत कार्य करते हैं वे ड्राईवर जो इंजन को आगे ले जाना चाहते हैं। एक के बाद दूसरे ड्राईवर पहिये के नीचे आते जाते हैं और उनके बोझ से, उनके वर्ग की जड़ता के बोझ से मुक्त हुआ इंजन आगे बढ़ता जाता है।

पूंजीवादी क्रांतियों में जहां यह प्रक्रिया एक छोटे काल में सिमटी होती है, सर्वहारा क्रांतियों में यह एक लम्बे काल में फैल जाती है। सर्वहारा क्रांति में पार्टियों और नेताओं के बीच यह संघर्ष एक लम्बे समय में फैला होता है, बल्कि यूं कहें कि समूचे संक्रमण काल में, समाजवाद के पूरे दौर में। चूंकि समाजवादी समाज में केवल एक ही पार्टी विद्यमान होती है इसलिये यह संघर्ष एक ही पार्टी के, कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के बीच संघर्ष में रूपान्तरित हो जाता है क्योंकि बाकी वर्ग भी अपने को कम्युनिस्ट पार्टी में ही अभिव्यक्त कर रहे होते हैं।

पूंजीवादी और सर्वहारा क्रांतियों में यह भिन्नता स्वाभाविक है क्योंकि पूंजीवादी क्रांति समाज रूपान्तरण की समूची प्रक्रिया का समापन बिन्दु होती है जबकि सर्वहारा क्रांति समूची प्रक्रिया को महज शुरू करती है। पूंजीवादी क्रांति से पूंजीवादी समाज आर्थिक–सामाजिक–राजनीतिक तौर पर स्थापित हो जाता है तथा सामंतवाद के खिलाफ बड़े उथल–पुथल की जरूरत समाप्त हो जाती है। सर्वहारा क्रांति से साम्यवादी समाज की स्थापना केवल शुरू होती है और पूंजीवाद के अवशेषों तथा निजी सम्पत्ति के हजारों

सालों के इतिहास के खिलाफ समूची लड़ाई आगे होती है। भीषण संघर्षों तथा उथल–पुथल का काल अभी आगे होता है।

उपरोक्त से साफ है कि क्रांति की वस्तुगत गति में अलग–अलग नेताओं की मनोगत अवस्थाओं का कोई महत्व नहीं होता। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कोई नेता अपने को कितना महान क्रांतिकारी मानता है। इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि कोई कितनी ईमानदारीपूर्वक क्रांति में मौजूद है। यहां एकमात्र निर्णायक चीज होती है व्यक्तियों की क्रांतियों में वस्तुगत भूमिका – क्रांति की शिक्षा व लक्ष्यों के बारे में उनकी सोच और सर्वोपरि उनका व्यवहार। क्रांति की वस्तुगत गति अलग–अलग व्यक्तियों को ऊपर उठाती है या पीछे धकेल देती है। यह वह उससे ज्यादा करती है जितना व्यक्ति क्रांति को आगे या पीछे ले जाने में करते हैं। जो व्यक्ति क्रांति की वस्तुगत गति के सबसे अनुरूप होते हैं वे उसके शीर्ष पर होते हैं जबकि बाकी किनारे लगा दिये जाते हैं। कौन कितना महान क्रांतिकारी साबित होगा और कौन क्रांति का गद्दार यह क्रांति की वस्तुगत गति तय करती है। क्रांति अपने नेता पैदा करती है या विद्यमान नेताओं में से अपने नेता चुनती है। यह 'महान' लोगों को तुच्छ बना देती है जबकि अति साधारण लोगों को महान।

V
क्रांति के दौरान आम कार्यनीति

"...युद्ध में, विशेष रूप से क्रांतिकारी युद्ध में, कोई निश्चित सफलता हासिल किये जाने तक कार्यवाही की द्रुतगति पहला नियम होती है।" (एंगेल्स,'जर्मनी में क्रांति तथा प्रतिक्रांति', वही, पृष्ठ.75.76)

"... युद्ध की तरह क्रांति में भी हमेशा यह आवश्यक होता है कि दुश्मन का साहसपूर्वक सामना किया जाये और जो प्रहार करता है, वही, सुविधाजनक स्थिति में होता है; युद्ध की तरह क्रांति में भी निर्णायक घड़ी में सब कुछ दांव पर लगाना सबसे आवश्यक है, चाहे कैसी ही परिस्थति क्यों न हो।" (वही पृष्ठ–83)

"युद्ध कला या अन्य कलाओं की तरह विद्रोह भी एक कला है। वह आगे बढ़ने के कतिपय नियमों द्वारा शासित है; जो कोई पार्टी उन नियमों की उपेक्षा करेगी वह अपनी बरबादी को न्यौता देगी। वे नियम, पार्टियों की प्रकृति तथा उन परिस्थितियों की प्रकृति से, जिनसे ऐसे मामलों में साबका पड़ा करता है, निकलने वाले तार्किक परिणाम इतने साफ और सरल हैं कि 1848 के अल्पकालिक अनुभव ने जर्मनों को उनसे बहुत अच्छी तरह परिचित करा दिया। पहली चीज – विद्रोह से तब तक खिलवाड़ न करें जब तक आप उस खेल के परिणामों का सामना करने के लिए पूरी तरह तैयार नहीं होते। विद्रोह तो एक ऐसा कलन है, जिसके परिणाम सर्वथा अनिश्चित होते हैं, जिसका मूल्य रोज बदल सकता है। मुकाबले में खड़ी शक्तियों को संगठन, अनुशासन तथा परम्परागत प्रतिष्ठा के सारे लाभ उपलब्ध होते हैं। यदि विद्रोही अपने दुश्मनों के खिलाफ और बड़ी ताकत में

मैदान में नहीं उतारेंगे तो वे हार जायेंगे और बरबाद हो जायेंगे। दूसरी चीज – एक बार विद्रोह शुरू हो जाने पर अधिकतम दृढ़ संकल्प के साथ काम करने तथा प्रहार करने की जरूरत होती है। प्रतिरक्षा की स्थिति प्रत्येक सशस्त्र विद्रोह की मौत हुआ करती है; अपने शत्रु से मुकाबला होने से पहले ही मैदान हाथ से निकल जाता है। जिस समय दुश्मन की शक्तियां बिखरी हुई हों, उस पर एकाएक टूट पड़ें, नयी–नयी सफलताओं के लिए तैयारी करते रहें, वे सफलताएं चाहे कितनी ही मामूली क्यों न हों, वे रोज–रोज हासिल हों; प्रथम सफल विजय ने विद्रोहियों का जो हौसला बढ़ाया है, उसे निरंतर बढ़ते रहने दें; उन ढुलमुल तत्वों को अपने पक्ष में एकजुट करते रहें जो सदैव ज्यादा शक्तिशाली का साथ देते हैं और जो हमेशा अधिक विश्वस्त पक्ष की तलाश करते हैं; इससे पहले कि शत्रु अपनी शक्ति उनके विरूद्ध बटोर सकें, उन्हें पीछे हटने के लिए विवश करें; दांतों के, क्रांतिकारी कार्यनीति के अब तक ज्ञात सबसे बड़े आचार्य के शब्दों में – साहस, साहस, फिर साहस !" (एंगेल्स, वही, पृष्ठ.103–104)

क्रांति में आम बगावत या विद्रोह एक ऐसी चीज है जो क्रांतिकारियों की ओर से किसी भी तरह की लापरवाही या अगंभीरता की इजाजत नहीं देती। विद्रोह के समय, क्रांतिकारी पार्टी और जनता का सब कुछ दांव पर लगा होता है। इसमें थोड़ी सी चूक सब कुछ नष्ट कर सकती है, सालों की मेहनत पर चंद घंटों में पानी फेर सकती है।

इसलिए विद्रोह से पहले एक लम्बे समय तक तैयारी की आवश्यकता होती है। एक लम्बे और थका–उबा देने वाले समय में ही क्रांतिकारी पार्टी का निर्माण हो सकता है, क्रांतिकारी वर्गों में उसका ताना–बाना फैलाया जा सकता है तथा उन्हें अपने प्रभाव में लाया जा सकता है। इस धीमे किन्तु अनिवार्य काम के बिना विद्रोह की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह पहले से ही असफल होने के लिए अभिशप्त है।

इस धीमे और थका–उबा देने वाले काम से उकता कर यदि कुछ लोग अपने दम पर शासक वर्गों से मोर्चा लेने चल देते हैं तथा सोचते हैं कि अपनी आतंकवादी कार्यवाहियों से वे पस्तहिम्मत जनता को जगा देंगे तो इससे केवल यही साबित होता है कि इन लोगों ने इतिहास से, खासकर क्रांतियों के इतिहास से कुछ भी नहीं सीखा है। कुछ लोगों की आतंकवादी कार्यवाहियां आम बगावतों को कभी जन्म नहीं दे सकतीं।

पूंजीवादी क्रांतियों में उनके चरित्र के अनुरूप ही स्वतःस्फूर्तता तथा आकस्मिकता का तत्व काफी ज्यादा था। लेकिन इसके बावजूद यह सोचना निहायत गलत होगा कि वे बिना किसी तैयारी के, केवल वस्तुगत कारकों के दबाव में ही फूट पड़ीं। इसके विपरीत हर क्रांति में वैचारिक और सांगठनिक तैयारी का अच्छा–खासा दौर था। फ्रांसीसी दार्शनिकों की एक पूरी शताब्दी के बिना फ्रांसीसी क्रांति की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह क्रांतिकारी सैलूनों तथा जैकोवियन क्लबों का फ्रांसीसी क्रांति में अपना महत्व था।

यह जाहिर सी बात है कि सर्वहारा क्रांतियां इस मामले में अतुलनीय तौर से आगे होंगी। पूंजीवाद ने पूरे समाज को एक सूत्र में पिरो दिया है तथा उसने समाज के पोर–पोर में समाई एक अत्यन्त केन्द्रीयकृत सत्ता को जन्म दिया है। इस केन्द्रीयकृत सत्ता को खत्म कर एक योजनाबद्ध समाज के निर्माण की कार्यवाही भी अत्यन्त सचेत और योजनाबद्ध होगी। यहां स्वतःस्फूर्तता, योजनाबद्धता में केवल मदद करेगी।

एक लम्बी तैयारी के बाद सत्ता पर कब्जा करने के लिए होने वाली बगावत का दिन पहले से तय नहीं किया जा सकता। केवल क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा हो जाने पर ही बगावत की जा सकती है और उसमें भी सबसे तीखे संकट के समय का आकलन करना होगा। लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि विद्रोह स्वतःस्फूर्त ढ़ंग से फूट पड़े। तब क्रांतिकारी पार्टी को उसे सफल बनाने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति और मेधा का इस्तेमाल करना पड़ेगा।

युद्ध के समय शत्रु और मित्र की विभाजन रेखा बहुत साफ होती है। साथ ही कार्यभार भी बहुत साफ होता है। दूसरी ओर दुश्मन खड़ा होता है और युद्ध में एक मात्र कार्यभार होता है दुश्मन को धराशाई कर देना।

क्रांति बहुत ज्यादा विभ्रम का समय होती है। पुराना टूट–बिखर रहा होता है और नया विध्वंस के बीच धीमे–धीमे पैदा हो रहा होता है। ऐसे में विभ्रम स्वाभाविक है। लेकिन इस विभ्रम के बीच शत्रु और मित्र की साफ–साफ पहचान अत्यंत आवश्यक होती है। विद्रोह या बगावत के समय शत्रुओं और मित्रों की काले और सफेद में पहचान करनी होती है। एक दम साफ विभाजक रेखा खींचनी होती है। और विभाजक रेखा खींचने के बाद कार्यवाही भी एकदम साफ और दृढ़ होती है। विद्रोह के समय किसी भी तरह के अनिश्चय और ढुलमुलपन की इजाजत नहीं दी जा सकती।

विद्रोह के समय युद्ध की तरह ही शत्रुओं से केवल एक ही तरह से निबटा जाता है–उनकी समस्त शक्ति को चकनाचूर कर देना। उस समय शत्रु को कोई छूट नहीं दी जा सकती। शत्रु को जरा भी छूट क्रांति को पराजय की ओर ले जाती है।

सभी क्रांतियों का इतिहास यह दिखाता है कि क्रांति के दौरान वर्ग अपनी सत्ता को बचाने के लिए किसी भी नैतिकता का, किसी भी मर्यादा का पालन नहीं करते। वे सामान्य समय के मुकाबले सैकड़ों गुना ज्यादा क्रूर और धूर्त हो जाते हैं। वे झूठ और बेईमानी की सारी सीमाओं को तोड़ देते हैं। उस समय उनका केवल एक ही लक्ष्य होता है–किसी भी तरह से अपनी सत्ता को बचाना। इसके लिए वे हैवान बन जाते हैं।

इनके मुकाबले क्रांतिकारी चूंकि नये समाज के अग्रदूत होते हैं इसलिए वे अत्यन्त ऊंचे दर्जे की क्रांतिकारी नैतिकता से बंधे होते हैं। वे किसी भी हालत में शासक वर्गों की नीचता तक नहीं उतर सकते।

इसीलिए यह और भी जरूरी हो जाता है कि शासक वर्गों से दृढ़ता से निबटा जाय और उनके किसी भी बहकावे में न तो आया जाय और न ही जनता को आने दिया जाय। अपने और शत्रु के बीच विभाजक रेखा किसी भी समय के मुकाबले इस समय ज्यादा महत्वपूर्ण हो उठती है।

बगावत के समय प्रतीकों का भारी महत्व होता है। शासक वर्गों से सम्बन्धित प्रतीकों पर हमला– चाहे वे जेलें हों, भवन हों या कोई व्यक्ति, क्रांतिकारी जनता में भारी उत्साह पैदा करता है। वास्तील किले पर जनता का धावा आज भी फ्रांसीसी क्रांति का प्रतीक है। इस तरह के प्रतीकों पर फतह हासिल करके जनता मनोगत तौर पर शासक वर्गों पर फतह हासिल करती है और वस्तुगत तौर पर शासक वर्गों पर फतह हासिल करने का उसका जज्बा बढ़ता है।

बगावत में जीत के लिए जरूरी है कि जनता का अपने उद्देश्य के सही होने में तथा जीत में दृढ़ विश्वास हो। बिना जीत में विश्वास के कोई भी लड़ाई नहीं जीती जा सकती। क्योंकि इसके बिना जीत के लिए आवश्यक मनोबल नहीं बनाये रखा जा सकता।

जीत के इसी मनोबल के लिए यह भी आवश्यक है कि जंग के दौरान लगातार कोई न कोई जीत हासिल की जाय, चाहे वह जीत कितनी छोटी क्यों न हो। लगातार जीतना और आगे जीत को प्रेरित करता है और अंतिम जीत में भरोसा जगाता है। इसके मुकाबले हार इस भरोसे को तोड़ती है और पस्तहिम्मती पैदा करती है।

लगातार हमला और जीत ही क्रांतिकारी खेमे में एकता को बनाए रखती है जबकि शत्रु खेमे में विभ्रम और बिखराव को जन्म देती है। इसके विपरीत बचाव और पराजय क्रांतिकारी खेमे में बिखराव को जन्म देती है और बगावत को असफल बना देती है।

VI

आम बगावत और दीर्घकालीन लोक युद्ध

"किसी देश में श्वेत राजनीतिक सत्ता के पूर्ण घेरे के बीच लाल राजनीतिक सत्ता के अधीन एक या कई छोटे–छोटे इलाके बहुत दिनों तक कायम रहना, एक ऐसी घटना है जो दुनिया के अन्य देशों में कभी नहीं घटी। इस असाधारण घटना के विशेष कारण हैं। केवल कुछ खास परिस्थितियों में ही इस तरह की सत्ता कायम रह सकती है और उसका विकास हो सकता है।" (माओ,'चीन में लाल सत्ता क्यों कायम रह सकती है?' माओ त्से–तुंङ की संकलित रचनाएं, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पेकिंङ, 1971, ग्रंथ.1, पृष्ठ.94)

"किसी देश में श्वेत राजनीतिक सत्ता के घेरे के अन्दर लाल राजनीतिक सत्ता के मातहत एक या कई छोटे इलाके पैदा हो जाना एक ऐसा घटनाक्रम है जो आज के संसार में केवल चीन में ही सम्भव हो सका है। विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि ऐसा होने का एक कारण चीन के दलाल पूंजीपति वर्ग और स्थानीय निरंकुश तत्वों व बुरे शरीफजादों के वर्ग के अन्दर लगातार फूट पड़ते रहना और लड़ाईयां होते रहना है। जब तक इन वर्गों के अन्दर फूट पड़ती रहेगी और लड़ाईयां होती रहेंगी, तब तक

मजदूर–किसानों की सशस्त्र स्वाधीन शासन व्यवस्था का बना रहना और बढ़ता जाना भी संभव रहेगा। इसके अलावा, इस सशस्त्र स्वाधीन शासन व्यवस्था के अस्तित्व व विकास के लिए निम्नलिखित शर्तें भी जरूरी हैं : (1) एक बहुत अच्छा जनाधार; (2) एक बहुत अच्छा पार्टी संगठन; (3) एक काफी शक्तिशाली लाल सेना; (4) फौजी कार्यवाहियों के लिए उपयुक्त धरातल; (5) रसद के लिए पर्याप्त आर्थिक शक्ति।"

(माओ,'चिंङ कांङशान पहाड़ों में संघर्ष', वही,पृष्ठ.109.110)

जैसा कि माओ कहते हैं, चीन की लाल सत्ता एक ऐसी चीज थी जो इसके पहले कभी दुनिया में देखी–सुनी नहीं गई। यह असामान्य परिघटना थी। बाद में यह चीन के लिए आम बन गई और चीनी क्रांति इसी पर आधारित दीर्घकालिक लोकयुद्ध के जरिये सफलता तक पहुंची।

एक या कुछ क्षेत्रों में आधार इलाका कायम करना, शासक वर्ग की सेना के साथ दीर्घकालिन लोकयुद्ध चलाना तथा देहातों से शहरों को घेरना यह एक ऐसी क्रांतिकारी रणनीति रही है जो चीन के पहले किसी क्रांति में नहीं देखने में आयी।

इसके पहले की सारी बुर्जुआ या सर्वहारा क्रांतियों में आम बगावत ही वह तरीका थी जिससे क्रांतिकरी वर्ग सत्ता पर कब्जा करते थे। बगावत न केवल शहरों में होती थी बल्कि देहातों में भी होती थी। यूरोप में ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी से किसान विद्रोह आम चीज थे।

ऐसा होता था कि विद्रोह के बाद यदि पुराना शासन तेजी के साथ ध्वस्त नहीं कर दिया जाता था तो लम्बा गृह युद्ध छिड़ जाता था। तब आम बगावत बाद में दो सेनाओं – क्रांतिकारी और प्रतिक्रांतिकारी सेनाओं की आमने–सामने की लड़ाई में रूपान्तरित हो जाती थी। इस गृह युद्ध का फैसला लम्बे या छोटे दौर की लड़ाई के बाद ही हो पाता था।

या कभी–कभी यह भी होता था कि किसी बाहरी देश की सेना से देश–मुक्ति की लड़ाई साथ ही क्रांतिकारी लड़ाई भी बन जाती थी जैसा कि हालैंड के मामले में हुआ। यहां विद्रोह और सेनाओं की लड़ाइयां आपस में घुल–मिल जाते थे।

लेकिन इन सब में विद्रोह या आम बगावत मुख्य तत्व हुआ करती थी। वह सारी लड़ाई का आधार हुआ करती थी।

गृह युद्ध या आमने–सामने की लड़ाई में देश के कुछ हिस्सों पर एक का कब्जा होता था तो बाकी में दूसरे का। लगातार कभी धीमे तो कभी तेज चलने वाली लड़ाई के बाद जल्दी ही फैसला हो जाता था कि दोनों में से कौन पक्ष सत्तानसीन रहेगा।

लेकिन चीन का दीर्घकालीन लोकयुद्ध इससे भिन्न था। यह एक देश के भीतर एक औपचारिक केन्द्रीय सत्ता के साथ–साथ विरोधी सत्ता की उपस्थिति थी। इस लाल सत्ता का जन्म किसानों और मजदूरों की आम बगावत तथा राष्ट्रीय सेना के उत्तरी अभियान की पृष्ठभूमि में और उसके बाद हुआ था। लेकिन उनके बाद भी इसका अस्तित्व बना हुआ था।

आधार क्षेत्र, दीर्घकालीन लोकयुद्ध तथा इलाकावार कब्जा आम बगावत तथा उसके बाद गृह युद्ध से मूलतः भिन्न था। यह कुछ ऐसा ही था कि देशव्यापी आम बगावत और उसके बाद होने वाला गृह युद्ध

दोनों कुछ इस रूप में घटित हों कि वे स्थान और समय में बिखर जायं। आम बगावत समूचे देश में एक ही समय होने के बदले देश के अलग–अलग हिस्सों में अलग–अलग समय में हों। इसी तरह गृह युद्ध भी देशव्यापी न होकर इलाकावार हो जाय और वह भी अलग–अलग इलाके में अलग–अलग समय। लेकिन बगावत और गृह युद्ध का स्थान और समय में इस तरह बिखरना उसके चरित्र को पूर्णतया बदल देता है। यह उसे गुणात्मक रूप में बदल कर भिन्न चरित्र प्रदान करता है।

आम बगावत और गृहयुद्ध तथा दीर्घकालीन लोकयुद्ध में यही सम्बन्ध है। आम बगावत और गृहयुद्ध यदि स्थान और समय में बिखर जायं या फैल जायं तो वे दीर्घकालीन लोक युद्ध का रूप धारण कर लेते हैं। इस तरह दीर्घकालीन लोकयुद्ध में भी बगावत और गृहयुद्ध का तत्व निहित होता है। दीर्घकालीन लोकयुद्ध की स्थिति में देश में एक आम क्रांतिकारी संकट हमेशा मौजूद रहता है हालांकि इसमें भी उतार–चढ़ाव आते रहते हैं। ऐसा देश की अर्द्धसामंती–अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक संरचना के कारण होता है

चीन में यदि क्रांति ने दीर्घकालीन लोक युद्ध का रास्ता पकड़ा तो इसके निश्चित भौतिक कारण थे। वे निहायत विशिष्ट थे। बाद में उसे लगभग कहीं भी नहीं दुहराया जा सका।

वैसे तो दुनिया की सारी क्रांतियों का इतिहास यह दिखाता है कि कोई भी दो क्रांतियां एक जैसी नहीं होतीं। जैसे एक जैसी समाज व्यवस्थाओं से गुजरने के बावजूद किन्हीं भी दो देशों का इतिहास एक जैसा नहीं होता,उसी तरह एक ही मूल चरित्र वाली दो क्रांतियों का रूप भी अलग–अलग होता है। इसीलिए किसी क्रांति के रूप की नकल करने से ज्यादा हास्यास्पद कोई चीज नहीं होती। क्रांति का मतलब ही है, पुराने को ध्वस्त कर नये का निर्माण। और नये का निर्माण नकल करके नहीं किया जा सकता। नकलची कभी क्रांतिकारी नहीं हो सकते।

पुरानी क्रांतियों से ज्यादा से ज्यादा कुछ सबक सीखे जा सकते हैं। सर्वहारा क्रांतियों में तो इसकी भी गुंजाइश बहुत कम है क्योंकि वहां सारा कुछ भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है।

आज इस बिना पर दीर्घकालीन लोकयुद्ध की वकालत नहीं की जा सकती और उसके लिए मंसूबा नहीं बनाया जा सकता कि देश अर्द्ध–सामंती और अर्द्ध–औपनिवेशिक हैं। अपवादों को छोड़कर आज सारे देश में केन्द्रीयकृत राज्य सत्ताएं हैं। इसी तरह ज्यादातर पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के तहत जी रहे हैं। ये दोनों तथ्य दुनिया के ज्यादातर देशों के लिए दीर्घकालीन लोकयुद्ध की रणनीति को निरर्थक बना देते हैं। आम बगावत स्वतः ही एजेण्डे पर आ जाती है।

अंत में यह कि अब वक्त आ गया है कि अपने को कम्युनिस्ट क्रांतिकारी कहने वाले लोग क्रांति को उसकी वास्तविक व्यापकता में ग्रहण करना शुरू करें तथा क्रांति की तैयारी में धैर्य से लगें जो भूकम्प की तरह पूरे मानव समाज को झकझोर कर रख देती है।

□□□